देवराला से भटेरी तक: राजस्थान में महिला आंदोलन और विधिक सुधार (1987–2013)

From Deorala to Bhateri: Women's Movement and Legal Reform in Rajasthan (1987–2013)

नीलम, *शोधार्थी,* ज्योति विद्यापीठ महिला विश्वविद्यालय, जयपुर

ई. मेल – ny443074@gmail.com

सारांश

स्वतंत्र भारत के महिला आंदोलन का इतिहास प्रायः दिल्ली, मुंबई और कोलकाता जैसे महानगरों के संगठनों की दृष्टि से लिखा गया है, जबकि अनेक निर्णायक विधिक परिवर्तनों की जड़ें क्षेत्रीय संघर्षों में मिलती हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र राजस्थान की दो घटनाओं को केंद्र में रखता है। पहली घटना सितंबर 1987 में सीकर ज़िले के देवराला गाँव में अठारह वर्षीय रूप कंवर का सती-दाह है। दूसरी घटना सितंबर 1992 में जयपुर ज़िले के भटेरी गाँव की साथिन भंवरी देवी के साथ हुआ सामूहिक बलात्कार है। लेख का तर्क है कि इन दोनों घटनाओं के विरुद्ध खड़े हुए स्त्री-प्रतिरोध ने राष्ट्रीय विधि-निर्माण की दिशा बदल दी। पहली घटना से सती (निवारण) आयोग अधिनियम, 1987 बना। दूसरी से विशाखा बनाम राजस्थान राज्य (1997) के दिशानिर्देश निकले और अंततः कार्यस्थल पर महिलाओं का लैंगिक उत्पीड़न (निवारण, प्रतिषेध और प्रतितोष) अधिनियम, 2013 पारित हुआ। ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक और विधिक-दस्तावेज़ी पद्धति पर आधारित यह अध्ययन समकालीन पत्रिकाओं, न्यायिक निर्णयों, सरकारी प्रतिवेदनों और नारीवादी विद्वत्ता का उपयोग करता है। निष्कर्ष यह है कि राजस्थान ने स्त्री आंदोलन को एक "विरोधाभासी प्रयोगशाला" दी। यहाँ आंदोलन ने कानून तो बदलवाए, पर संबंधित स्त्रियों को स्वयं न्याय नहीं मिल सका। अध्ययन यह भी दिखाता है कि कानून-निर्माण और न्याय-प्राप्ति के बीच की खाई जाति, पितृसत्ता, राजनीतिक संरक्षण और संस्थागत उदासीनता से बनती है। इसलिए "राजनीतिक अधिकारों से सामाजिक न्याय तक" की यात्रा विधि-निर्माण पर समाप्त नहीं होती।

मुख्य शब्द: महिला आंदोलन, राजस्थान, रूप कंवर, देवराला, भंवरी देवी, विशाखा दिशानिर्देश, सती निवारण अधिनियम, पॉश अधिनियम 2013, विधिक सुधार, सामाजिक न्याय

1. प्रस्तावना

भारतीय संविधान ने 1950 में स्त्रियों को मताधिकार, विधि के समक्ष समता और लिंग के आधार पर भेदभाव से सुरक्षा दी। फिर भी स्वतंत्रता के बाद के पहले दो दशक स्त्री-प्रश्न की दृष्टि से अपेक्षाकृत शांत रहे। यह मान लिया गया था कि औपचारिक अधिकार मिल जाने से सामाजिक बराबरी अपने-आप आ जाएगी। 1974 में भारत में महिलाओं की स्थिति पर गठित समिति का प्रतिवेदन *टुवर्ड्स इक्वालिटी* आया, जिसने इस भ्रम को तोड़ा (Government of India, 1974)। प्रतिवेदन ने दिखाया कि संवैधानिक वादों और स्त्रियों के वास्तविक जीवन के बीच गहरी खाई है। सत्तर और अस्सी के दशक में दहेज-हत्या, हिरासत में बलात्कार और घरेलू हिंसा के विरुद्ध स्वायत्त स्त्री-संगठनों का जो उभार हुआ, उसे इतिहासकारों ने "स्वायत्त महिला आंदोलन" का दौर कहा है (Kumar, 1993; Gandhi & Shah, 1992)।

इस इतिहास-लेखन में राजस्थान की उपस्थिति प्रायः एक "समस्या-क्षेत्र" की रही है। उसे सामंती मूल्यों, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह और कम स्त्री-साक्षरता वाले प्रदेश के रूप में देखा गया है। यह छवि पूरी तरह निराधार नहीं है, पर अधूरी अवश्य है। इसी प्रदेश में अस्सी और नब्बे के दशक में ऐसे स्त्री-संघर्ष हुए जिनकी अनुगूँज संसद और सर्वोच्च न्यायालय तक पहुँची। देवराला (1987) और भटेरी (1992) इसके दो सबसे स्पष्ट उदाहरण हैं। देवराला ने यह प्रश्न उठाया कि क्या "परंपरा" और "आस्था" के नाम पर एक युवा स्त्री की मृत्यु का महिमामंडन लोकतांत्रिक राज्य में स्वीकार्य हो सकता है। भटेरी ने पूछा कि जो स्त्री राज्य की ही योजना के तहत सामाजिक सुधार का काम कर रही हो, उसकी सुरक्षा का दायित्व किसका है।

प्रस्तुत शोध-पत्र इन दोनों प्रसंगों को अलग-अलग घटनाओं के रूप में नहीं, एक निरंतर ऐतिहासिक प्रक्रिया की दो कड़ियों के रूप में पढ़ता है। 1987 से 2013 तक के लगभग छब्बीस वर्षों में राजस्थान के स्त्री-संगठनों ने सड़क, अदालत और नीति-निर्माण तीनों मोर्चों पर काम किया। इस दौरान उनके अनुभवों से ऐसे विधिक ढाँचे बने जो पूरे देश पर लागू हुए। फिर भी एक कड़वी विडंबना इस कहानी के केंद्र में है। रूप कंवर के मामले में किसी को दंड नहीं मिला, और भंवरी देवी के बलात्कार के अभियुक्त सत्र न्यायालय से बरी हो गए। यह लेख इसी विरोधाभास को समझने का प्रयास है। प्रश्न यह है कि जो आंदोलन कानून बदलने में सफल रहा, वह विशिष्ट पीड़िताओं के लिए न्याय क्यों नहीं जुटा सका, और इस विफलता से भारतीय स्त्री-आंदोलन की "राजनीतिक अधिकारों से सामाजिक न्याय तक" की यात्रा के बारे में क्या पता चलता है।

2. साहित्य पुनरावलोकन

देवराला प्रसंग पर उपलब्ध विद्वत्ता को मोटे तौर पर तीन धाराओं में बाँटा जा सकता है। पहली धारा समकालीन रिपोर्ताज और कार्यकर्ता-लेखन की है। कविता श्रीवास्तव, नीरजा मिश्र और शारदा जैन ने *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली* में घटना के तुरंत बाद जयपुर में हुए स्त्री-प्रतिरोध का ब्यौरा दर्ज किया (Srivastava et al., 1987)। इसी समय *मानुषी* में मधु किश्वर और रुथ वनिता ने एक विस्तृत लेख लिखा (Kishwar & Vanita, 1987)। उन्होंने "चुनरी महोत्सव" के उत्सवधर्मी चरित्र, सती धर्म रक्षा समिति की उग्र रैली और अध्यादेश की अस्पष्टताओं पर तीखे प्रश्न उठाए। इन लेखों का महत्त्व इस बात में है कि वे घटनाओं के साथ-साथ चलते हुए आंदोलन की अपनी समझ को सामने रखते हैं।

दूसरी धारा विश्लेषणात्मक और सैद्धांतिक है। कुमकुम संगारी और सुदेश वैद ने 1991 में समकालीन राजस्थान में विधवा-दाह के पीछे सक्रिय संस्थाओं, विश्वास-प्रणालियों और विचारधाराओं का गहन अध्ययन किया (Sangari & Vaid, 1991)। उन्होंने दिखाया कि सती को "प्राचीन परंपरा" कहना ऐतिहासिक रूप से भ्रामक है। देवराला जैसी घटनाएँ आधुनिक राजनीति, जातीय अस्मिता, मंदिर-अर्थव्यवस्था और मीडिया-प्रचार की उपज भी हैं। जॉन स्ट्रैटन हॉली द्वारा संपादित *सती, द ब्लेसिंग एंड द कर्स* (1994) इस बहस को अंतरराष्ट्रीय विद्वत्ता तक ले गई (Hawley, 1994)। इसी संकलन में वीना तलवार ओल्डेनबर्ग ने रूप कंवर मामले पर नारीवादी प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण किया (Oldenburg, 1994)। हाल में सौम्या सक्सेना ने *लॉ एंड हिस्ट्री रिव्यू* में उत्तर-औपनिवेशिक भारत में सती के "पुलिसीकरण" का अध्ययन किया है (Saxena, 2023)। उनका तर्क है कि राज्य ने सती को मुख्यतः "कानून-व्यवस्था" की समस्या के रूप में देखा, स्त्री के जीवन और गरिमा के प्रश्न के रूप में कम।

तीसरी धारा विधि और नारीवाद के संबंध पर केंद्रित है। फ्लेविया एग्नेस (1999), रत्ना कपूर और ब्रेंडा कॉसमैन (1996), तथा निवेदिता मेनन (2004) ने अलग-अलग ढंग से यह प्रश्न उठाया है कि क्या कानून स्त्री-मुक्ति का विश्वसनीय औज़ार हो सकता है। मेनन का तर्क विशेष रूप से प्रासंगिक है। उनके अनुसार कानून की भाषा में अनूदित होते ही स्त्री-राजनीति की विध्वंसक धार प्रायः कुंद हो जाती है (Menon, 2004)। देवराला और भटेरी दोनों इस तर्क की परीक्षा के लिए उपयुक्त प्रसंग हैं।

भटेरी प्रसंग और विशाखा निर्णय पर लेखन अपेक्षाकृत विधि-केंद्रित रहा है। अधिकांश अध्ययन विशाखा दिशानिर्देशों को अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून, विशेषकर सीडॉ (CEDAW), के घरेलू अनुप्रयोग के उदाहरण के रूप में पढ़ते हैं। कंचन माथुर का योगदान इस दृष्टि से अलग है। उन्होंने 1992 में ही *ईपीडब्ल्यू* में भटेरी मामले के बाद उठी प्रतिक्रिया और प्रतिरोध पर लिखा (Mathur, 1992)। बाद में अपनी पुस्तक में उन्होंने राजस्थान में लैंगिक हिंसा के विरुद्ध सामूहिक कार्रवाई का विस्तृत

अध्ययन किया (Mathur, 2004)। सुमी माधोक ने महिला विकास कार्यक्रम की साथिनों के अनुभवों के आधार पर "एजेंसी" की अवधारणा पर पुनर्विचार किया है (Madhok, 2013)। उनका अध्ययन बताता है कि राज्य-प्रायोजित विकास-कार्यक्रम के भीतर काम करने वाली ग्रामीण स्त्रियाँ अधिकारों की भाषा को अपने ढंग से गढ़ती और बरतती हैं।

इस समृद्ध साहित्य के बावजूद एक कमी स्पष्ट दिखती है। देवराला और भटेरी पर अलग-अलग पर्याप्त लेखन हुआ है, पर उन्हें एक साझा ऐतिहासिक प्रक्षेप-पथ के रूप में पढ़ने वाले अध्ययन बहुत कम हैं। ऐसे अध्ययन और भी कम हैं जो 1987 से 2013 तक की पूरी अवधि को राजस्थान के स्त्री-आंदोलन और राष्ट्रीय विधि-निर्माण के बीच के संबंध की दृष्टि से देखें। हिंदी में इस विषय पर शोधपरक लेखन विशेष रूप से विरल है। प्रस्तुत अध्ययन इसी रिक्ति को भरने का प्रयास करता है।

3. शोध के उद्देश्य एवं शोध-प्रविधि

3.1 शोध के उद्देश्य

1. देवराला (1987) और भटेरी (1992) प्रसंगों के ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक संदर्भ का विश्लेषण करना।
2. इन घटनाओं के विरुद्ध राजस्थान के स्त्री-संगठनों की रणनीतियों, गठबंधनों और प्रतिरोध के रूपों की पहचान करना।
3. इन संघर्षों से निकले विधिक सुधारों, अर्थात् सती (निवारण) आयोग अधिनियम, विशाखा दिशानिर्देश और पॉश अधिनियम 2013, की उत्पत्ति और स्वरूप का अध्ययन करना।
4. विधिक सुधार और वास्तविक न्याय-प्राप्ति के बीच के अंतराल की आलोचनात्मक व्याख्या करना।

3.2 शोध-प्रश्न

1. राजस्थान के क्षेत्रीय स्त्री-संघर्ष राष्ट्रीय विधि-निर्माण को किस प्रक्रिया से प्रभावित कर सके?
2. देवराला और भटेरी के प्रतिरोध में क्या निरंतरता और क्या भिन्नता दिखाई देती है?
3. कानून बन जाने के बाद भी संबंधित पीड़िताओं को न्याय क्यों नहीं मिल सका?

3.3 शोध-प्रविधि

यह अध्ययन गुणात्मक है और ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक तथा विधिक-दस्तावेज़ी पद्धति पर आधारित है। प्राथमिक स्रोतों में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय, संसद द्वारा पारित अधिनियम, *टुवर्ड्स इक्वालिटी* (1974) और न्यायमूर्ति वर्मा समिति (2013) के प्रतिवेदन तथा घटनाओं के समय प्रकाशित

कार्यकर्ता-लेख शामिल हैं। द्वितीयक स्रोतों में शोध-पत्रिकाओं के लेख, संपादित ग्रंथ और विधि-विश्लेषण सम्मिलित हैं। विश्लेषण के लिए तुलनात्मक केस-अध्ययन पद्धति अपनाई गई है, जिसमें दोनों प्रसंगों को घटना, प्रतिरोध, विधिक प्रत्युत्तर और न्यायिक परिणति, इन चार आयामों पर परखा गया है। सैद्धांतिक स्तर पर अध्ययन नारीवादी विधि-आलोचना (Menon, 2004; Kapur & Cossman, 1996) और अंतर्विभाजकता (intersectionality) की दृष्टि का उपयोग करता है, क्योंकि भटेरी प्रसंग में जाति और लिंग का गुँथाव केंद्रीय है। अध्ययन की सीमा यह है कि यह क्षेत्र-कार्य या साक्षात्कार पर आधारित नहीं, बल्कि प्रकाशित और सार्वजनिक दस्तावेज़ों पर आधारित है।

4. पृष्ठभूमि: अस्सी के दशक का राजस्थान और स्त्री-संगठनों का उभार

अस्सी के दशक का राजस्थान दो विपरीत धाराओं के बीच खड़ा था। एक ओर ग्रामीण समाज में पर्दा, बाल-विवाह और जातिगत पदानुक्रम गहरे जमे थे। दूसरी ओर राज्य विकास-योजनाओं के माध्यम से गाँवों तक पहुँचने की कोशिश कर रहा था। इसी संदर्भ में 1984 में महिला विकास कार्यक्रम (Women's Development Programme) आरंभ हुआ। यह कार्यक्रम पहले छह ज़िलों में शुरू हुआ और बाद में इसका विस्तार हुआ। इसकी संरचना का आधार "साथिन" थी, यानी गाँव की ही एक स्त्री जो अन्य स्त्रियों को संगठित करने, सूचना पहुँचाने और सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध जागरूकता फैलाने का काम करती थी। कार्यक्रम का उद्देश्य केवल आर्थिक सहायता बाँटना नहीं था। उसका लक्ष्य स्त्रियों में अपनी स्थिति को पहचानने और सामूहिक रूप से उसे बदलने की क्षमता पैदा करना था।

सुमी माधोक ने साथिनों के अनुभवों पर आधारित अपने अध्ययन में दिखाया है कि इस कार्यक्रम ने ग्रामीण स्त्रियों के लिए एक नया सार्वजनिक स्थान रचा (Madhok, 2013)। साथिनें भूमि, पानी, साक्षरता, स्वास्थ्य, सार्वजनिक वितरण प्रणाली और न्यूनतम मज़दूरी जैसे प्रश्नों पर काम करती थीं। यह काम उन्हें अनिवार्यतः गाँव की स्थापित सत्ता-संरचनाओं से टकराव में ले आता था। राज्य ने उन्हें परिवर्तन का वाहक तो बनाया, पर इस परिवर्तन से उपजने वाले जोखिमों से उनकी रक्षा का कोई ठोस प्रबंध नहीं किया। भटेरी प्रसंग इसी अंतर्विरोध का सबसे त्रासद उदाहरण बना।

इसी दौर में जयपुर में कई स्वैच्छिक संगठन, शोध-संस्थान और नागरिक अधिकार समूह सक्रिय थे। उनमें काम करने वाली स्त्रियों ने विकास-कार्यक्रमों, अकादमिक शोध और सक्रिय आंदोलन के बीच एक पुल बनाया। देवराला के बाद जो त्वरित प्रतिरोध दिखा, वह इसी पहले से मौजूद नेटवर्क के कारण संभव हो सका (Srivastava et al., 1987)। यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह उस धारणा का खंडन करता है कि राजस्थान में स्त्री-चेतना बाहर से, यानी महानगरों से, आयातित हुई थी।

5. देवराला प्रसंग (1987): परंपरा, राजनीति और स्त्री-प्रतिरोध

5.1 घटना और उसका सार्वजनिक उत्सवीकरण

4 सितंबर 1987 को सीकर ज़िले के देवराला गाँव में अठारह वर्षीय रूप कंवर अपने चौबीस वर्षीय पति माल सिंह की चिता पर जलकर मर गई। विवाह को लगभग आठ महीने ही हुए थे। घटना के बाद यह दावा प्रचारित किया गया कि रूप कंवर ने स्वेच्छा से "सती" होने का निर्णय लिया था। पर इस "स्वेच्छा" पर आरंभ से ही गंभीर प्रश्न उठे। विद्वानों और कार्यकर्ताओं ने पूछा कि एक अठारह वर्ष की युवती, जो अपने ससुराल में कुछ ही महीने रही हो, ऐसे सामाजिक-धार्मिक दबाव के बीच किस अर्थ में स्वतंत्र निर्णय ले सकती थी (Kishwar & Vanita, 1987; Oldenburg, 1994)।

घटना से भी अधिक विचलित करने वाला था उसका सार्वजनिक उत्सवीकरण। मृत्यु के तेरहवें दिन सती-स्थल पर "चुनरी महोत्सव" आयोजित करने की घोषणा हुई। राजस्थान उच्च न्यायालय ने इस आयोजन और स्थल पर मंदिर-निर्माण को रोकने का आदेश दिया (Saxena, 2023)। फिर भी आयोजन हुआ और भारी भीड़ जुटी। किश्वर और वनिता ने ठीक ही पूछा कि मृत्यु के शोक-संस्कार को "महोत्सव" कहने का क्या अर्थ है (Kishwar & Vanita, 1987)। यह नाम ही बता देता था कि आयोजकों के लिए यह घटना शोक की नहीं, गौरव और प्रदर्शन की वस्तु थी।

संगारी और वैद ने इस प्रदर्शन के पीछे की संस्थागत संरचना को उजागर किया (Sangari & Vaid, 1991)। उनके विश्लेषण के अनुसार आधुनिक राजस्थान में सती-स्थलों के इर्द-गिर्द मंदिरों, ट्रस्टों, मेलों और चढ़ावे की पूरी अर्थव्यवस्था विकसित हो चुकी थी। सती का महिमामंडन केवल धार्मिक विश्वास का प्रश्न नहीं था। वह एक विशिष्ट जातीय अस्मिता की राजनीति और आर्थिक हितों से भी जुड़ा था। इस दृष्टि से देवराला किसी "पिछड़े अतीत" का अवशेष नहीं, बल्कि आधुनिकता के भीतर पनपी एक प्रतिगामी राजनीति का लक्षण था।

5.2 स्त्री-संगठनों का प्रतिरोध

देवराला की ख़बर फैलते ही जयपुर के स्त्री-संगठन सक्रिय हो गए। उन्होंने जयपुर में मौन जुलूस निकाला, सार्वजनिक बहसें आयोजित कीं और विभिन्न सामाजिक वर्गों की स्त्रियों को संगठित करने का प्रयास किया (Kishwar & Vanita, 1987; Srivastava et al., 1987)। दिल्ली और जयपुर में सती के महिमामंडन के विरुद्ध बड़े प्रदर्शन हुए, जिनसे यह मुद्दा राष्ट्रीय स्तर पर पहुँचा (Saxena, 2023)। स्त्री-संगठनों ने मुख्यमंत्री से मिलकर ठोस कार्रवाई की माँग भी की।

यह प्रतिरोध आसान नहीं था। सती के समर्थन में सती धर्म रक्षा समिति, जिसका नाम बाद में धर्म रक्षा समिति रखा गया, ने जयपुर में एक बड़ी रैली की। किश्वर और वनिता के अनुसार यह रैली शोक-सभा कम और उग्र शक्ति-प्रदर्शन अधिक थी, जिसमें अनेक नगरों से आए युवा और शिक्षित पुरुषों की भागीदारी थी (Kishwar & Vanita, 1987)। इस प्रकार देवराला ने एक सार्वजनिक संघर्ष का रूप ले लिया। एक ओर "परंपरा" और "आस्था" के नाम पर संगठित पुरुष-शक्ति थी, दूसरी ओर संविधान और स्त्री के जीवन के अधिकार के पक्ष में खड़ी स्त्रियाँ।

ओल्डेनबर्ग ने इस प्रतिरोध की एक जटिलता की ओर ध्यान दिलाया है (Oldenburg, 1994)। सती-समर्थकों ने नारीवादियों को "पश्चिमीकृत", "शहरी" और "भारतीय संस्कृति से कटी हुई" बताकर उनकी वैधता पर प्रश्न उठाया। इस आक्रमण ने स्त्री-आंदोलन को एक कठिन स्थिति में डाल दिया। उसे एक साथ यह सिद्ध करना था कि वह भारतीय समाज के भीतर से बोल रहा है और यह भी कि "परंपरा" के नाम पर स्त्री की मृत्यु स्वीकार्य नहीं हो सकती। संस्कृति और अधिकार के बीच का यह तनाव आगे के दशकों में भी स्त्री-आंदोलन के सामने बार-बार आया।

5.3 विधिक प्रत्युत्तर: सती निवारण कानून

जन-दबाव के चलते राजस्थान सरकार ने 1987 में सती निवारण अध्यादेश जारी किया। उस समय विधानसभा का सत्र नहीं चल रहा था (Saxena, 2023)। बाद में राज्य स्तर पर कानून बना और फिर संसद ने सती (निवारण) आयोग अधिनियम, 1987 पारित किया, जो 1988 का अधिनियम संख्या 3 है और 3 जनवरी 1988 से प्रभावी हुआ। इस कानून की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि इसने सती के साथ-साथ उसके "महिमामंडन" को भी अपराध घोषित किया। समारोह आयोजित करना, जुलूस निकालना, सती की स्मृति में ट्रस्ट बनाना या मंदिर-निर्माण करना, ये सब महिमामंडन की परिभाषा में आए।

यह विधिक दृष्टि से एक नया कदम था। औपनिवेशिक काल का 1829 का बंगाल सती विनियमन मुख्यतः दाह की घटना पर केंद्रित था। 1987 का कानून उस पूरे सामाजिक-आर्थिक तंत्र को निशाना बनाता था जो सती को जीवित रखता है। इसमें स्त्री-आंदोलन की उस समझ की स्पष्ट छाप दिखती है जिसे संगारी और वैद जैसी विद्वानों ने सैद्धांतिक रूप दिया था (Sangari & Vaid, 1991)।

फिर भी कानून की आलोचना भी हुई। किश्वर और वनिता ने राजस्थान अध्यादेश को अस्पष्ट बताया और उसके दुरुपयोग की आशंका जताई (Kishwar & Vanita, 1987)। कुछ आलोचकों ने यह भी कहा कि कानून की भाषा औपनिवेशिक विनियमन से बहुत अलग नहीं थी और वह राज्य को "सभ्यता के रक्षक" की भूमिका में फिर से स्थापित करती थी। सक्सेना का तर्क है कि राज्य की

प्रतिक्रिया मूलतः "कानून-व्यवस्था" केंद्रित रही (Saxena, 2023)। उदाहरण के लिए देवराला में पुलिस की उपस्थिति ने जाँच को आगे बढ़ाने के बजाय कई अवसरों पर उसे बाधित किया (Kishwar & Vanita, 1987)।

5.4 न्यायिक परिणति: कानून की उपस्थिति, न्याय की अनुपस्थिति

देवराला की कहानी का सबसे निराशाजनक अध्याय न्यायिक प्रक्रिया है। घटना में उपस्थित पैंतालीस लोगों को आरंभ में अभियुक्त बनाया गया था, पर 1996 में साक्ष्य के अभाव में वे बरी हो गए (Saxena, 2023)। महिमामंडन से जुड़े मामलों में 31 जनवरी 2004 को जयपुर के एक विशेष न्यायालय ने ग्यारह अभियुक्तों को बरी कर दिया। इनमें राजनीतिक रूप से प्रभावशाली व्यक्ति भी शामिल थे (Shukla, 2004)।

राकेश शुक्ला ने इस निर्णय के तर्क की कड़ी आलोचना की है। उनके अनुसार न्यायालय ने "सती" शब्द को कानूनी परिभाषा के बजाय एक "पतिव्रता, चरित्रवान स्त्री" के अर्थ में पढ़ा। फिर यह कहा गया कि जब तक रूप कंवर की मृत्यु को सती सिद्ध नहीं किया जाता, तब तक उसके महिमामंडन का आरोप टिक नहीं सकता। यह तब हुआ जबकि जुलूस और समारोह हज़ारों लोगों, विधायकों और प्रभावशाली व्यक्तियों की उपस्थिति में हुए थे (Shukla, 2004)। अभियोजन की विफलताएँ भी उतनी ही गंभीर थीं। प्राथमिकी देर से दर्ज हुई, तस्वीरों और रिकॉर्डिंग को प्रमाणित नहीं किया जा सका, और कई वरिष्ठ अधिकारी, पुलिस अधिकारियों सहित, गवाही के दौरान अपने पूर्व बयानों से मुकर गए।

यहाँ मेनन की वह स्थापना साकार होती दिखती है कि कानून का होना और कानून का काम करना दो अलग बातें हैं (Menon, 2004)। आंदोलन ने एक कठोर कानून बनवाया, पर जिस प्रशासनिक और न्यायिक तंत्र को उसे लागू करना था, वह स्वयं उन्हीं सामाजिक मूल्यों से प्रभावित था जिनके विरुद्ध कानून बना था।

6. भटेरी प्रसंग (1992): साथिन, जाति और राज्य

6.1 बाल-विवाह का विरोध और प्रतिशोध

देवराला के पाँच वर्ष बाद राजस्थान एक और प्रसंग का साक्षी बना। इसने स्त्री-आंदोलन को एक नई दिशा दी। जयपुर ज़िले के भटेरी गाँव की भंवरी देवी महिला विकास कार्यक्रम में साथिन के रूप में काम कर रही थीं। 1992 में अक्षय तृतीया (आखा तीज) से पहले राज्य सरकार ने बाल-विवाह के विरुद्ध अभियान चलाया, क्योंकि इस तिथि पर राजस्थान में बड़ी संख्या में बाल-विवाह होते रहे हैं। साथिन के रूप में भंवरी देवी ने इस अभियान में भाग लिया और गाँव के गुर्जर परिवार में होने वाले एक बाल-

विवाह को रोकने का प्रयास किया। इसमें केवल नौ महीने की एक बच्ची का विवाह होना था (Nathan, 2018)। प्रशासनिक हस्तक्षेप के बावजूद अंततः विवाह संपन्न हो गया, पर गाँव के प्रभावशाली परिवारों की दृष्टि में भंवरी देवी 'दोषी' ठहरा दी गईं।

भंवरी देवी के इस हस्तक्षेप को गाँव के प्रभावशाली परिवारों ने अपनी प्रतिष्ठा पर आघात माना। उनके परिवार का सामाजिक बहिष्कार शुरू हुआ। 22 सितंबर 1992 की संध्या को, जब भंवरी देवी अपने पति के साथ खेत में काम कर रही थीं, पाँच पुरुषों ने पति को लाठियों से पीटा और भंवरी देवी के साथ सामूहिक बलात्कार किया (Nathan, 2018)। कंचन माथुर ने उसी वर्ष लिखे अपने लेख में इस प्रतिशोधात्मक हिंसा और उसके बाद उठे प्रतिरोध को दर्ज किया (Mathur, 1992)।

यह घटना साधारण आपराधिक घटना नहीं थी। यह उस स्त्री को दिया गया "दंड" था जिसने राज्य की ही नीति को लागू करने का प्रयास किया था। साथ ही यह जाति और लिंग के गुँथे हुए उत्पीड़न का उदाहरण था। भंवरी देवी सामाजिक पदानुक्रम में निचली मानी जाने वाली जाति से थीं, जबकि हमलावर गाँव के प्रभावशाली गुर्जर समुदाय से थे। अंतर्विभाजकता की दृष्टि से यहाँ लैंगिक हिंसा जातिगत सत्ता को बनाए रखने और उसे चुनौती देने वाली स्त्री को "सबक सिखाने" का साधन बन गई।

6.2 जाँच और न्यायिक विफलता

बलात्कार के बाद भंवरी देवी को जिस संस्थागत व्यवहार का सामना करना पड़ा, वह स्वयं में एक दूसरी हिंसा थी। पुलिस ने उनकी शिकायत को गंभीरता से नहीं लिया और प्राथमिकी दर्ज करने में ही कई प्रशासनिक बाधाएँ खड़ी हुईं। चिकित्सकीय परीक्षण घटना के लगभग 52 घंटे बाद हो सका (Nathan, 2018)। बलात्कार के मामलों में साक्ष्य की दृष्टि से यह विलंब निर्णायक होता है, और आगे चलकर अभियोजन को इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी। यह विलंब किसी एक अधिकारी की चूक भर नहीं था। यह उस संस्थागत संस्कृति का लक्षण था जिसमें ग्रामीण, निर्धन और निम्न मानी जाने वाली जाति की स्त्री की शिकायत प्राथमिकता नहीं पाती।

नवंबर 1995 में सत्र न्यायालय ने पाँचों अभियुक्तों को बरी कर दिया (Nathan, 2018)। निर्णय के कुछ तर्क व्यापक रूप से उद्धृत और आलोचित हुए। उदाहरण के लिए यह कहा गया कि पति अपनी पत्नी के साथ बलात्कार होते हुए निष्क्रिय होकर नहीं देख सकता था। स्त्री-संगठनों ने इस निर्णय को जातिगत और लैंगिक पूर्वाग्रहों से ग्रस्त बताया (Mathur, 2004)। सबसे बड़ी विडंबना यह रही कि इस निर्णय के विरुद्ध अपील उच्च न्यायालय में दशकों तक लंबित रही। घटना के छब्बीस वर्ष बाद, 2018 में भी, उस पर निर्णय नहीं हो सका था (Nathan, 2018)। जिस स्त्री के संघर्ष ने देश की करोड़ों कामकाजी स्त्रियों के लिए कानून बनवाया, उसका अपना मुक़दमा न्याय-व्यवस्था की धीमी गति में अटका रहा।

6.3 सामूहिक प्रतिरोध और प्रश्न का पुनर्निर्धारण

भंवरी देवी ने चुप रहने से इनकार किया, और यही इस प्रसंग का निर्णायक मोड़ बना। राजस्थान और देश भर के स्त्री-संगठन उनके समर्थन में खड़े हुए। माथुर के अनुसार राजस्थान में लैंगिक हिंसा के विरुद्ध सामूहिक कार्रवाई की जो परंपरा देवराला के बाद बनी थी, वह भटेरी के बाद और संगठित तथा परिपक्व हुई (Mathur, 2004)। भंवरी देवी स्वयं इस प्रतिरोध का चेहरा बनीं, और उनका साहस अन्य ग्रामीण स्त्रियों के लिए प्रेरणा बना।

पर इस प्रतिरोध की सबसे बड़ी उपलब्धि एक वैचारिक नवाचार थी। स्त्री-संगठनों ने प्रश्न को नए ढंग से रखा। भंवरी देवी अपने गाँव में घर-घर जाकर काम कर रही थीं, और वह काम राज्य की योजना का हिस्सा था। तो उनका "कार्यस्थल" कहाँ था, और उस कार्यस्थल पर उनकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व किसका था? इस प्रश्न ने एक व्यक्तिगत अपराध को संस्थागत उत्तरदायित्व के प्रश्न में बदल दिया। कार्यस्थल की पारंपरिक, दफ़्तर-केंद्रित अवधारणा टूटी और उसकी जगह यह समझ आई कि जहाँ भी स्त्री अपना काम करती है, वहाँ उसकी सुरक्षा नियोक्ता और राज्य का दायित्व है (Nathan, 2018)।

7. विशाखा निर्णय (1997): सड़क से सर्वोच्च न्यायालय तक

भटेरी प्रसंग से उपजे इसी प्रश्न को लेकर चार स्त्री-संगठनों ने सर्वोच्च न्यायालय में जनहित याचिका दायर की। इनमें राजस्थान के "विशाखा" और "विमेंस रिहैबिलिटेशन ग्रुप" तथा दिल्ली के "जागोरी" और "काली फ़ॉर विमेन" शामिल थे (Nathan, 2018)। मामला "विशाखा" के नाम से जाना गया। यह रिट याचिका (आपराधिक) संख्या 666–70, 1992 थी। उल्लेखनीय है कि याचिका भंवरी देवी के व्यक्तिगत मामले में न्याय की माँग नहीं करती थी। उसकी माँग थी कि कार्यस्थल पर स्त्रियों के लैंगिक उत्पीड़न को रोकने के लिए एक व्यापक ढाँचा बने। यह रणनीतिक चुनाव था। आंदोलन ने एक व्यक्तिगत त्रासदी को सार्वजनिक नीति के प्रश्न में अनूदित किया।

13 अगस्त 1997 को मुख्य न्यायाधीश जे. एस. वर्मा, न्यायमूर्ति सुजाता मनोहर और न्यायमूर्ति बी. एन. कृपाल की पीठ ने ऐतिहासिक निर्णय दिया (Vishaka v. State of Rajasthan, 1997)। न्यायालय ने कहा कि कार्यस्थल पर लैंगिक उत्पीड़न संविधान के अनुच्छेद 14 (समता), 15 (भेदभाव का निषेध), 19(1)(छ) (कोई भी वृत्ति अपनाने की स्वतंत्रता) और 21 (प्राण और गरिमा) के अंतर्गत स्त्रियों के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन है। उस समय इस विषय पर कोई घरेलू कानून नहीं था। इसलिए न्यायालय ने भारत द्वारा 1993 में अनुसमर्थित सीडॉ (स्त्रियों के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव के

उन्मूलन पर अभिसमय) के अनुच्छेद 11 और उससे जुड़ी अनुशंसाओं का सहारा लिया। संवैधानिक आधार के रूप में अनुच्छेद 51(ग) और अनुच्छेद 253 का उल्लेख हुआ।

निर्णय के दिशानिर्देशों में लैंगिक उत्पीड़न को व्यापक रूप से परिभाषित किया गया। इसमें अवांछित शारीरिक संपर्क, यौन-स्वीकृति की माँग, यौन-रंजित टिप्पणियाँ, अश्लील सामग्री दिखाना और अन्य शाब्दिक या अशाब्दिक आचरण शामिल थे। नियोक्ताओं को निवारक कदम उठाने, शिकायत-तंत्र बनाने और शिकायतकर्ता को प्रतिशोध से बचाने का दायित्व सौंपा गया। प्रत्येक संस्थान में एक शिकायत समिति का प्रावधान हुआ, जिसकी अध्यक्ष स्त्री हो, जिसके कम से कम आधे सदस्य स्त्रियाँ हों और जिसमें यौन उत्पीड़न के प्रश्न से परिचित किसी बाहरी गैर-सरकारी संस्था का प्रतिनिधि भी हो। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि न्यायालय ने अनुच्छेद 141 के अंतर्गत इन दिशानिर्देशों को तब तक बाध्यकारी "विधि" घोषित किया जब तक संसद इस विषय पर कानून न बना दे।

विशाखा निर्णय भारतीय विधि-इतिहास में कई कारणों से विशिष्ट है। यह अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार कानून के घरेलू अनुप्रयोग का प्रमुख उदाहरण बना। इसने न्यायपालिका को विधायी रिक्ति भरने वाली संस्था के रूप में स्थापित किया। और इसने यह दिखाया कि राजस्थान के एक गाँव की वंचित स्त्री का संघर्ष देश की करोड़ों कामकाजी स्त्रियों के अधिकारों का आधार बन सकता है। 1999 में *एपेरल एक्सपोर्ट प्रमोशन काउंसिल बनाम ए. के. चोपड़ा* मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने इन सिद्धांतों को दोहराया और स्पष्ट किया कि लैंगिक उत्पीड़न के लिए शारीरिक संपर्क अनिवार्य नहीं है (Apparel Export Promotion Council v. A. K. Chopra, 1999)।

8. विशाखा से पॉश अधिनियम 2013 तक

विशाखा दिशानिर्देश बाध्यकारी थे, पर अगले डेढ़ दशक में उनका पालन बहुत असमान रहा। अनेक संस्थानों में शिकायत समितियाँ बनीं ही नहीं, और जहाँ बनीं, वहाँ कई बार वे औपचारिकता भर रहीं। इसी अनुपालन-संकट पर सर्वोच्च न्यायालय ने *मेधा कोतवाल लेले बनाम भारत संघ* मामले में फिर हस्तक्षेप किया (Medha Kotwal Lele v. Union of India, 2013)। न्यायालय ने राज्यों और नियोक्ताओं को दिशानिर्देशों के प्रभावी अनुपालन के निर्देश दिए। इस मामले ने स्पष्ट किया कि न्यायिक दिशानिर्देश तब तक पर्याप्त नहीं हैं जब तक उन्हें स्पष्ट दंड और निगरानी-तंत्र वाले संसदीय कानून का रूप न मिले।

लंबी प्रतीक्षा के बाद कार्यस्थल पर महिलाओं का लैंगिक उत्पीड़न (निवारण, प्रतिषेध और प्रतितोष) अधिनियम, 2013 पारित हुआ। यह 2013 का अधिनियम संख्या 14 है। लोकसभा ने इसे 3 सितंबर 2012 को और राज्यसभा ने 26 फ़रवरी 2013 को पारित किया। 22 अप्रैल 2013 को इसे

राष्ट्रपति की स्वीकृति मिली और यह 9 दिसंबर 2013 से लागू हुआ। अधिनियम ने विशाखा दिशानिर्देशों को वैधानिक रूप दिया और कई नए प्रावधान जोड़े। दस या अधिक कर्मचारियों वाले प्रत्येक कार्यस्थल पर आंतरिक शिकायत समिति अनिवार्य हुई। ज़िला स्तर पर स्थानीय शिकायत समिति का प्रावधान हुआ, ताकि असंगठित क्षेत्र और छोटे प्रतिष्ठानों की स्त्रियाँ भी शिकायत कर सकें। जाँच के लिए नब्बे दिन की समय-सीमा तय हुई, और घरेलू कामगार स्त्रियाँ भी अधिनियम के दायरे में लाई गईं।

भंवरी देवी के संदर्भ में स्थानीय शिकायत समिति का प्रावधान विशेष महत्त्व रखता है। साथिन जैसी ग्रामीण कार्यकर्ता, जिसका कोई निश्चित दफ़्तर नहीं होता, अब सैद्धांतिक रूप से इस तंत्र के अंतर्गत शिकायत कर सकती थी। कार्यस्थल की जो विस्तृत अवधारणा भटेरी प्रसंग से उभरी थी, उसे इस प्रकार वैधानिक स्वीकृति मिली।

फिर भी अधिनियम अपनी आलोचनाओं से मुक्त नहीं रहा। दिसंबर 2012 के दिल्ली सामूहिक बलात्कार कांड के बाद गठित न्यायमूर्ति जे. एस. वर्मा समिति ने जनवरी 2013 में अपना प्रतिवेदन सौंपा (Verma et al., 2013)। समिति ने उस समय विचाराधीन विधेयक की कई कमियों की ओर ध्यान दिलाया। समिति का मत था कि संस्थान के भीतर की समिति के बजाय संस्थान से बाहर एक स्वतंत्र "रोज़गार न्यायाधिकरण" बनना चाहिए, क्योंकि आंतरिक तंत्र में स्त्रियाँ शिकायत करने से हिचकेंगी। समिति ने शिकायत से पहले समझौते (conciliation) के प्रावधान को भी स्त्री की गरिमा के प्रतिकूल और सर्वोच्च न्यायालय की भावना के विपरीत बताया। झूठी शिकायत पर दंड के प्रावधान को उसने दुरुपयोग की आशंका से भरा माना (PRS Legislative Research, 2013)। अंतिम अधिनियम ने इनमें से अधिकांश सुझाव स्वीकार नहीं किए। आंतरिक समिति, समझौते का विकल्प और झूठी शिकायत पर दंड का प्रावधान, तीनों अधिनियम में बने रहे।

यह तथ्य विधिक सुधार की प्रकृति पर एक महत्त्वपूर्ण टिप्पणी है। आंदोलन जिस प्रश्न को लेकर चला था, वह कानून बनते-बनते अनेक समझौतों से गुज़रा। जिसे स्त्री-आंदोलन ने "न्याय" के प्रश्न के रूप में उठाया था, वह अंतिम रूप में बहुत हद तक "अनुपालन" और "प्रक्रिया" का प्रश्न बन गया।

9. तुलनात्मक विश्लेषण: देवराला और भटेरी

दोनों प्रसंगों की तुलना कुछ स्पष्ट समानताओं और कुछ मूलभूत भिन्नताओं को सामने लाती है। नीचे की तालिका इन्हें संक्षेप में प्रस्तुत करती है।

तालिका 1: देवराला और भटेरी प्रसंगों का तुलनात्मक विश्लेषण

आयाम	देवराला (1987)	भटेरी (1992)

घटना का स्वरूप	विधवा-दाह और उसका सार्वजनिक महिमामंडन	सामाजिक सुधार-कार्य के प्रतिशोध में सामूहिक बलात्कार
पीड़िता की सामाजिक स्थिति	प्रभावशाली जाति-समुदाय की युवा विधवा	निम्न मानी जाने वाली जाति की ग्रामीण साथिन
हिंसा का औचित्य	"परंपरा", "आस्था" और जातीय गौरव	जातिगत प्रतिष्ठा और "मर्यादा-भंग" का प्रतिशोध
स्त्री-प्रतिरोध का रूप	मौन जुलूस, सार्वजनिक बहस, राज्य पर दबाव	स्थानीय समर्थन, राष्ट्रीय एकजुटता, जनहित याचिका
प्रमुख विधिक परिणाम	सती (निवारण) आयोग अधिनियम, 1987	विशाखा दिशानिर्देश (1997) और पॉश अधिनियम (2013)
विधिक नवाचार	"महिमामंडन" का अपराधीकरण	"कार्यस्थल" की विस्तृत परिभाषा; सीडॉ का घरेलू अनुप्रयोग
व्यक्तिगत न्याय	सभी अभियुक्त बरी (1996, 2004)	अभियुक्त बरी (1995); अपील लंबे समय तक लंबित

स्रोत: शोधकर्ता द्वारा Kishwar & Vanita (1987), Saxena (2023), Shukla (2004), Mathur (2004) तथा Vishaka v. State of Rajasthan (1997) के आधार पर संकलित।

पहली समानता यह है कि दोनों प्रसंगों में स्त्री-देह पर होने वाली हिंसा सामुदायिक प्रतिष्ठा और सत्ता से जुड़ी थी। देवराला में स्त्री की मृत्यु एक समुदाय के लिए गौरव का प्रतीक बनाई गई। भटेरी में स्त्री के शरीर पर हिंसा एक समुदाय की "मर्यादा" बहाल करने का साधन बनी। दोनों में स्त्री व्यक्ति नहीं रही। वह सामुदायिक सम्मान का वाहक बना दी गई।

दूसरी समानता यह है कि दोनों प्रसंगों में आंदोलन ने व्यक्तिगत त्रासदी को व्यापक संरचनात्मक प्रश्न में बदला। देवराला के बाद प्रश्न केवल रूप कंवर की मृत्यु का नहीं रहा। प्रश्न उस पूरे तंत्र का बना जो सती को महिमामंडित करता है। भटेरी के बाद भी प्रश्न केवल भंवरी देवी के अपराधियों को दंड दिलाने का नहीं रहा। प्रश्न यह बना कि कामकाजी स्त्रियों की सुरक्षा का दायित्व किसका है।

तीसरी और सबसे गहरी समानता न्यायिक परिणति में है। दोनों प्रसंगों में आंदोलन कानून बनवाने में सफल रहा, पर विशिष्ट पीड़िता के लिए न्याय नहीं जुटा सका। यह संयोग नहीं, एक संरचनात्मक प्रवृत्ति है। कानून-निर्माण अपेक्षाकृत केंद्रीकृत प्रक्रिया है, जिसे राष्ट्रीय स्तर का संगठित दबाव प्रभावित कर सकता है। कानून का अनुपालन स्थानीय पुलिस, चिकित्सकों, अभियोजकों और निचली अदालतों के हाथ में होता है। ये संस्थाएँ उन्हीं स्थानीय सत्ता-संबंधों में धँसी होती हैं जिनके विरुद्ध कानून बना होता है।

भिन्नताएँ भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं। देवराला में संघर्ष का केंद्र "संस्कृति" था। स्त्री-आंदोलन पर पश्चिमीकरण का आरोप लगा और उसे अपनी सांस्कृतिक वैधता सिद्ध करनी पड़ी (Oldenburg, 1994)।

भटेरी में संघर्ष का केंद्र "श्रम" और "राज्य" था। यहाँ आंदोलन ने राज्य को उसके अपने कर्मी की रक्षा के दायित्व से बाँधा। देवराला का विधिक परिणाम दंडात्मक था, यानी एक कृत्य को अपराध घोषित करना। भटेरी का विधिक परिणाम निवारक और संस्थागत था, यानी उत्पीड़न रोकने के तंत्र की स्थापना। यह बदलाव स्त्री-आंदोलन की बदलती रणनीति का संकेत है, जो दंड की माँग से आगे बढ़कर संरचनात्मक सुधार की माँग तक पहुँची।

एक और भिन्नता जाति के प्रश्न में है। देवराला में पीड़िता प्रभावशाली समुदाय से थी, और उसकी मृत्यु का महिमामंडन उसी समुदाय की अस्मिता-राजनीति का अंग था। भटेरी में पीड़िता निम्न मानी जाने वाली जाति से थी, और उस पर हिंसा जातिगत पदानुक्रम को बनाए रखने का साधन थी। दोनों प्रसंग मिलकर दिखाते हैं कि राजस्थान में पितृसत्ता का स्वरूप जातिगत संरचना से अलग करके नहीं समझा जा सकता। यह वही अंतर्दृष्टि है जिसे नब्बे के दशक में दलित-स्त्री विमर्श ने मुख्यधारा के नारीवाद के सामने चुनौती के रूप में रखा।

10. विवेचना: विधिक सुधार की सीमाएँ और संभावनाएँ

देवराला से भटेरी और फिर पॉश अधिनियम तक की यात्रा भारतीय स्त्री-आंदोलन और कानून के जटिल संबंध पर गंभीर प्रश्न उठाती है। एक दृष्टि से यह सफलता की कहानी है। राजस्थान के क्षेत्रीय संघर्षों ने दो राष्ट्रीय कानूनों और एक युगांतरकारी न्यायिक निर्णय को जन्म दिया। विशाखा दिशानिर्देशों ने दफ़्तरों, विश्वविद्यालयों, अस्पतालों और कारख़ानों में लैंगिक उत्पीड़न को "निजी" समस्या की जगह "संस्थागत" दायित्व का प्रश्न बनाया। यह परिवर्तन छोटा नहीं है।

दूसरी दृष्टि से यह कहानी कानून पर अत्यधिक निर्भरता के ख़तरों की ओर संकेत करती है। निवेदिता मेनन का तर्क है कि कानून स्त्री-राजनीति को एक विशेष ढाँचे में बाँध देता है (Menon, 2004)। वह जटिल सामाजिक संबंधों को "अपराधी" और "पीड़ित" की द्वैत श्रेणियों में बदल देता है और साक्ष्य, प्रक्रिया तथा प्रमाण की कठोर माँगें रखता है। देवराला में "सती" शब्द की व्याख्या पर ही पूरा मामला अटक गया (Shukla, 2004)। भटेरी में चिकित्सकीय साक्ष्य के विलंब और न्यायाधीश के पूर्वाग्रहों ने निर्णय की दिशा तय की। दोनों प्रसंगों में कानून की तकनीकी भाषा ने उस सामाजिक सच्चाई को ढक दिया जिसे सब जानते थे।

फ्लेविया एग्नेस ने भारतीय संदर्भ में यह रेखांकित किया है कि स्त्री-अधिकारों से जुड़ा विधि-निर्माण प्रायः राज्य की अपनी राजनीतिक आवश्यकताओं से भी संचालित होता है (Agnes, 1999)। देवराला के बाद त्वरित कानून-निर्माण को इस दृष्टि से भी पढ़ा जा सकता है। राज्य ने कानून बनाकर

अपनी "प्रगतिशील" छवि बचाई, जबकि ज़मीनी स्तर पर अनुपालन के लिए आवश्यक राजनीतिक इच्छाशक्ति कमज़ोर रही। अभियुक्तों में प्रभावशाली राजनीतिक व्यक्तियों का होना और सरकारी गवाहों का मुकर जाना (Shukla, 2004) इस अनिच्छा के स्पष्ट संकेत हैं।

नब्बे के दशक के बाद भारतीय स्त्री-आंदोलन में "एनजीओकरण" की जो प्रवृत्ति बढ़ी, उसका प्रभाव भी इस यात्रा पर दिखता है। श्रीला रॉय ने दिखाया है कि स्त्री-संगठनों के व्यावसायीकरण और परियोजना-आधारित कार्यशैली ने आंदोलन की राजनीतिक धार को कई जगह कमज़ोर किया, यद्यपि उसने नए अवसर भी खोले (Roy, 2015)। विशाखा से पॉश अधिनियम तक की प्रक्रिया में आंदोलन की भाषा "अधिकार" और "न्याय" से हटकर "अनुपालन", "प्रशिक्षण" और "नीति" की ओर गई। आज अनेक संस्थानों में पॉश अनुपालन एक प्रशासनिक औपचारिकता बन गया है। यह उस मूल संघर्ष से बहुत दूर है जिसकी शुरुआत भटेरी के एक खेत में हुई थी।

फिर भी इस आलोचना को निराशावाद में नहीं बदलना चाहिए। कानून केवल दंड का औज़ार नहीं, एक सामाजिक घोषणा भी है। सती के महिमामंडन को अपराध घोषित करके राज्य ने कम से कम सिद्धांततः यह स्वीकार किया कि स्त्री का जीवन किसी "परंपरा" से ऊपर है। विशाखा निर्णय ने स्वीकार किया कि कामकाजी स्त्री की गरिमा मौलिक अधिकार है। इन घोषणाओं ने बाद के संघर्षों को एक वैधानिक और नैतिक आधार दिया। 2012–13 के बाद देश में लैंगिक हिंसा के विरुद्ध जो व्यापक जन-आंदोलन उभरा, उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि में देवराला और भटेरी के संघर्षों की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।

यहीं "राजनीतिक अधिकारों से सामाजिक न्याय तक" की यात्रा का वास्तविक अर्थ खुलता है। 1950 का संविधान स्त्रियों को राजनीतिक अधिकार दे चुका था। देवराला और भटेरी ने दिखाया कि ये अधिकार गाँव की चौपाल, खेत, पुलिस थाने और निचली अदालत तक अपने-आप नहीं पहुँचते। सामाजिक न्याय तक पहुँचने के लिए कानून आवश्यक है, पर्याप्त नहीं। इसके लिए जातिगत और पितृसत्तात्मक सत्ता-संरचनाओं का रूपांतरण, संवेदनशील प्रशासन और न्यायपालिका, तथा निरंतर सक्रिय नागरिक समाज भी अनिवार्य हैं।

11. निष्कर्ष

इस शोध-पत्र ने 1987 से 2013 के बीच राजस्थान के दो निर्णायक प्रसंगों, देवराला और भटेरी, के माध्यम से भारतीय स्त्री-आंदोलन और विधिक सुधार के संबंध का विश्लेषण किया। अध्ययन के मुख्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं।

पहला, राजस्थान भारतीय स्त्री-आंदोलन का केवल "समस्या-क्षेत्र" नहीं, बल्कि विधिक नवाचार की एक प्रमुख भूमि रहा है। सती के महिमामंडन का अपराधीकरण और कार्यस्थल पर लैंगिक उत्पीड़न के विरुद्ध राष्ट्रीय ढाँचा, दोनों की जड़ें इसी प्रदेश के संघर्षों में हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि स्त्री-आंदोलन का इतिहास केवल महानगर-केंद्रित दृष्टि से नहीं लिखा जा सकता।

दूसरा, दोनों प्रसंगों में स्त्री-आंदोलन ने व्यक्तिगत त्रासदी को संरचनात्मक प्रश्न में बदलने की रणनीति अपनाई। देवराला के बाद प्रश्न सती के पूरे तंत्र का बना, और भटेरी के बाद कार्यस्थल की सुरक्षा के संस्थागत दायित्व का। इसी रणनीति के कारण स्थानीय संघर्ष राष्ट्रीय कानून में बदल सके।

तीसरा, कानून-निर्माण और न्याय-प्राप्ति के बीच एक गहरी और संरचनात्मक खाई बनी रही। रूप कंवर के मामले में सभी अभियुक्त बरी हुए, और भंवरी देवी को सत्र न्यायालय से न्याय नहीं मिला। यह खाई जातिगत सत्ता, राजनीतिक संरक्षण, प्रशासनिक उदासीनता और न्यायिक पूर्वाग्रह से बनती है।

चौथा, आंदोलन की रणनीति दंडात्मक माँगों से संस्थागत और निवारक सुधारों की ओर बढ़ी। यह परिपक्वता का संकेत है, पर इसके साथ "एनजीओकरण" और अनुपालन-केंद्रित औपचारिकता का जोखिम भी आया।

अंततः देवराला से भटेरी तक की यात्रा यह सिखाती है कि स्वतंत्र भारत में स्त्रियों की "राजनीतिक अधिकारों से सामाजिक न्याय तक" की यात्रा अभी अधूरी है। भंवरी देवी ने स्वयं कहा है कि कानून की अदालत और सरकार ने उन्हें विफल किया, पर जनता की अदालत में उन्हें न्याय मिला (Nathan, 2018)। यह कथन भारतीय लोकतंत्र के सामने एक स्थायी प्रश्न रखता है। भावी शोध के लिए यह आवश्यक है कि पॉश अधिनियम के अंतर्गत स्थानीय शिकायत समितियों की ग्रामीण राजस्थान में वास्तविक कार्यप्रणाली का क्षेत्र-आधारित अध्ययन किया जाए। साथ ही सती-स्थलों के आसपास आज भी चल रही धार्मिक-आर्थिक गतिविधियों का भी अध्ययन हो। इससे यह आकलन संभव होगा कि 1987 और 2013 के कानूनों ने ज़मीनी यथार्थ को कितना बदला है।

संदर्भ सूची

Agnes, F. (1999). *Law and gender inequality: The politics of women's rights in India*. Oxford University Press.

Apparel Export Promotion Council v. A. K. Chopra, (1999) 1 SCC 759 (Supreme Court of India).

Commission of Sati (Prevention) Act, 1987, No. 3 of 1988 (India).

Gandhi, N., & Shah, N. (1992). *The issues at stake: Theory and practice in the contemporary women's movement in India*. Kali for Women.

Government of India. (1974). *Towards equality: Report of the Committee on the Status of Women in India*. Ministry of Education and Social Welfare.

Hawley, J. S. (Ed.). (1994). *Sati, the blessing and the curse: The burning of wives in India*. Oxford University Press.

Kapur, R., & Cossman, B. (1996). *Subversive sites: Feminist engagements with law in India*. Sage Publications.

Kishwar, M., & Vanita, R. (1987). The burning of Roop Kanwar. *Manushi,* (42–43).

Kumar, R. (1993). *The history of doing: An illustrated account of movements for women's rights and feminism in India, 1800–1990*. Kali for Women.

Madhok, S. (2013). *Rethinking agency: Developmentalism, gender and rights*. Routledge. https://doi.org/10.4324/9781315816074

Mathur, K. (1992). Bhateri rape case: Backlash and protest. *Economic and Political Weekly, 27*(41).

Mathur, K. (2004). *Countering gender violence: Initiatives towards collective action in Rajasthan*. Sage Publications.

Medha Kotwal Lele v. Union of India, (2013) 1 SCC 297 (Supreme Court of India).

Nathan, A. (2018, October 22). Dalit woman's rape in '92 led to India's first sexual harassment law – but justice still eludes her. *Scroll.in*. https://scroll.in/article/899044/dalit-womans-rape-in-92-led-to-indias-first-sexual-harassment-law-but-justice-still-eludes-her

Menon, N. (2004). *Recovering subversion: Feminist politics beyond the law*. Permanent Black.

Oldenburg, V. T. (1994). The Roop Kanwar case: Feminist responses. In J. S. Hawley (Ed.), *Sati, the blessing and the curse: The burning of wives in India*. Oxford University Press. https://doi.org/10.1093/oso/9780195077742.003.0005

PRS Legislative Research. (2013, February 28). *Verma Committee on the Sexual Harassment Bill* [Blog post]. https://prsindia.org/theprsblog/verma-committee-on-the-sexual-harassment-bill

Roy, S. (2015). The Indian women's movement: Within and beyond NGOization. *Journal of South Asian Development, 10*(1), 96–117. https://doi.org/10.1177/0973174114567368

Sangari, K., & Vaid, S. (1991). Institutions, beliefs, ideologies: Widow immolation in contemporary Rajasthan. *Economic and Political Weekly, 26*(17).

Saxena, S. (2023). Policing sati: Law, order, and spectacle in postcolonial India. *Law and History Review, 41*, 341–363. https://doi.org/10.1017/S0738248022000591

Sexual Harassment of Women at Workplace (Prevention, Prohibition and Redressal) Act, 2013, No. 14 of 2013 (India).

Shukla, R. (2004, March 20). *Sati glorification: Crime, society and the wheels of injustice*. South Asia Citizens Web. https://www.sacw.net/Wmov/shukla20March2004.html

Srivastava, K., Misra, N., & Jain, S. (1987). Deorala episode: Women's protest in Rajasthan. *Economic and Political Weekly, 22*(45).

Verma, J. S., Seth, L., & Subramanium, G. (2013). *Report of the Committee on Amendments to Criminal Law*. Government of India.

Vishaka v. State of Rajasthan, (1997) 6 SCC 241 (Supreme Court of India).